'प्रमाण मीमांसा'[1]

आभ्यन्तर स्वरूप

प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमाण मीमांसा का ठीक-ठीक और वास्तविक परिचय पाने के लिए यह अनिवार्य रूप से जरूरी है कि उसके आभ्यन्तर और बाह्य स्वरूप का स्पष्ट विश्लेषण किया जाए तथा जैन तर्क साहित्य में और तद्द्वारा तार्किक दर्शन साहित्य में प्रमाण मीमांसा का क्या स्थान है, यह भी देखा जाए।

आचार्य ने जिस दृष्टि को लेकर प्रमाण मीमांसा का प्रणयन किया है और उसमें प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय आदि जिन तत्त्वों का निरूपण किया है उस दृष्टि और उन तत्त्वों के हार्द का स्पष्टीकरण करना यही ग्रन्थ के आभ्यन्तर स्वरूप का वर्णन है। इसके वास्ते यहाँ नीचे लिखे चार मुख्य मुद्दों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाता है—

(१) जैन दृष्टि का स्वरूप (२) जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता (३) प्रमाणशक्ति की मर्यादा (४) प्रमेय प्रदेश का विस्तार।

१. जैन दृष्टि का स्वरूप

भारतीय दर्शन मुख्यतया दो विभागों में विभाजित हो जाते हैं। कुछ तो हैं वास्तववादी और कुछ हैं अवास्तववादी। जो स्थूल अर्थात् लौकिक प्रमाणगम्य जगत को भी वैसा ही वास्तविक मानते हैं जैसा सूक्ष्म लोकोत्तर प्रमाणगम्य जगत को अर्थात् जिनके मतानुसार व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्य में कोई भेद नहीं; सत्य सब एक कोटि का है चाहे मात्रा न्यूनाधिक हो अर्थात् जिनके मतानुसार भान चाहे न्यूनाधिक और स्पष्ट-अस्पष्ट हो पर प्रमाण मात्र में भासित होनेवाले सभी स्वरूप वास्तविक हैं तथा जिनके मतानुसार वास्तविक रूप भी वाणी प्रकाश्य हो सकते हैं—वे दर्शन वास्तववादी हैं। इन्हें विधिमुख, इदमित्थंवादी या एवंवादी भी कह सकते हैं—जैसे चार्वाक, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, सांख्ययोग, वैभाषिक-सौत्रान्तिक बौद्ध और माध्वादि वेदान्त।

जिनके मतानुसार बाह्य दृश्य जगत मिथ्या है और आन्तरिक जगत ही परम

---

१ आचार्य हेमचन्द्र कृत 'प्रमाण मीमांसा' की प्रस्तावना, ई० १९३९।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत्य है; अर्थात् जो दर्शन सत्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक अथवा सांवृतिक और वास्तविक ऐसे दो भेद करके लौकिक प्रमाणगम्य और वाणीप्रकाश्य भाव को अवास्तविक मानते हैं, वे अवास्तववादी हैं। इन्हें निषेधमुख या अनेकांतवादी भी कह सकते हैं। जैसे शून्यवादी-विज्ञानवादी बौद्ध और शांकरवेदान्त आदि दर्शन।

प्रकृति से अनेकान्तवादी होते हुए भी जैन दृष्टि का स्वरूप एकान्ततः वास्तववादी ही है क्योंकि उसके मतानुसार भी इन्द्रियजन्य मतिज्ञान आदि में भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का वही स्थान है जो पारमार्थिक केवलज्ञान में भासित होनेवाले भावों के सत्यत्व का स्थान है अर्थात् जैन मतानुसार दोनों सत्य की मात्रा में अन्तर है, योग्यता व गुण में नहीं। केवल ज्ञान में द्रव्य और उनके अनन्य पर्याय जिस यथार्थता से जिस रूप से भासित होते हैं उसी यथार्थता और उसी रूप से कुछ द्रव्य और उनके कुछ ही पर्याय मतिज्ञान आदि में भी भासित हो सकते हैं। इसी से जैन दर्शन अनेक सूक्ष्मतम भावों की अनिर्वचनीयता को मानता हुआ भी निर्वचनीय भावों को यथार्थ मानता है, जब कि शून्यवादी और शांकर वेदांत आदि ऐसा नहीं मानते।

२. जैन दृष्टि की अपरिवर्तिष्णुता

जैन दृष्टि का जो वास्तववादित्व स्वरूप ऊपर बताया गया वह इतिहास के प्रारंभ से अब तक एक ही रूप में रहा है या उसमें कभी किसी के द्वारा थोड़ा बहुत परिवर्त्तन हुआ है, यह एक बड़े महत्व का प्रश्न है। इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह होता है कि अगर जैन दृष्टि सदा एक सी स्थितिशील रही और बौद्ध वेदान्त दृष्टि की तरह उसमें परिवर्तन या चिन्तन विकास नहीं हुआ तो इसका क्या कारण?

भगवान महावीर का पूर्व समय जब से थोड़ा बहुत भी जैन परम्परा का इतिहास पाया जाता है तब से लेकर आजतक जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप बिलकुल अपरिवर्तिष्णु या ध्रुव ही रहा है। जैसा कि न्याय-वैशेषिक, पूर्व मीमांसक, सांख्य योग आदि दर्शनों का भी वास्तववादित्व अपरिवर्तिष्णु रहा है। बेशक न्याय वैशेषिक आदि उक्त दर्शनों की तरह जैन दर्शन के साहित्य में भी प्रमाण प्रमेय आदि सब पदार्थों की व्याख्याओं में लक्षण-प्रणयन में और उनकी उपपत्ति में उत्तरोत्तर सूक्ष्म और सूक्ष्मतर विकास तथा स्पष्टता हुई है, यहाँ तक कि नव्य न्याय के परिष्कार का आश्रय लेकर भी यशोविजयजी जैसे जैन विद्वानों ने व्याख्या एवं लक्षणों का विश्लेषण किया है फिर भी इस सारे ऐतिहासिक समय में जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि के वास्तववादित्व स्वरूप में एक अंश भी फर्क नहीं पड़ा है जैसा कि बौद्ध और वेदांत परंपरा में हम पाते हैं।

बौद्ध परंपरा शुरू में वास्तववादी ही रही पर महायान की विज्ञानवादी और शून्यवादी शाखा ने उसमें आमूल परिवर्तन कर डाला। उसका वास्तववादित्व ऐकान्तिक अवास्तववादित्व में बदल गया। यही है बौद्ध परंपरा का दृष्टि परिवर्तन। वेदान्त परंपरा में भी ऐसा ही हुआ। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र में जो अवास्तववादित्व के अस्पष्ट बीज थे और जो वास्तववादित्व के स्पष्ट सूचन थे उन सब का एकमात्र अवास्तववादित्व अर्थ में तात्पर्य बतलाकर शंकराचार्य ने वेदांत में अवास्तववादित्व की स्पष्ट स्थापना की जिसके ऊपर आगे जाकर दृष्टिसृष्टिवाद आदि अनेक रूपों में और भी दृष्टि परिवर्तन व विकास हुआ। इस तरह एक तरफ बौद्ध और वेदान्त दो परंपराओं की दृष्टि परिवर्तिष्णुता और बाकी के सब दर्शनों की दृष्टि अपरिवर्तिष्णुता हमें इस भेद के कारणों की खोज की ओर प्रेरित करती है।

स्थूल जगत को असत्य या व्यावहारिक सत्य मानकर उससे भिन्न आंतरिक जगत को ही परम सत्य माननेवाले अवास्तववाद का उद्गम सिर्फ तभी संभव है जब कि विश्लेषण क्रिया की पराकाष्ठा-आत्यन्तिकता हो या समन्वय की पराकाष्ठा हो। हम देखते हैं कि यह योग्यता बौद्ध परंपरा और वेदान्त परंपरा के सिवाय अन्य किसी दार्शनिक परंपरा में नहीं है। बुद्ध ने प्रत्येक स्थूल सूक्ष्म भाव का विश्लेषण यहाँ तक किया कि उसमें कोई स्थायी द्रव्य जैसा तत्त्व शेष न रहा। उपनिषदों में भी सब भेदों का—विविधताओं का समन्वय एक ब्रह्म—स्थिर तत्त्व में विश्रान्त हुआ। भगवान बुद्ध के विश्लेषण को आगे जाकर उनके सूक्ष्मप्रज्ञ शिष्यों ने यहाँ तक विस्तृत किया कि अन्त में व्यवहार में उपयोगी होनेवाले अखण्ड द्रव्य या द्रव्य भेद सर्वथा नाम शेष हो गए। क्षणिक किन्तु अनिर्वचनीय परम सत्य ही शेष रहा। दूसरी ओर शंकराचार्य ने औपनिषद परम ब्रह्म की समन्वय भावना को यहाँ तक विस्तृत किया कि अन्त में भेदप्रधान व्यवहार जगत नामशेष या मायिक ही होकर रहा। बेशक नागार्जुन और शंकराचार्य जैसे ऐकान्तिक विश्लेषणकारी या ऐकान्तिक समन्वयकर्ता न होते तो इन दोनों परंपराओं में व्यावहारिक और परमसत्य के भेद का आविष्कार न होता। फिर भी हमें भूलना न चाहिए कि अवास्तववादी दृष्टि की योग्यता बौद्ध और वेदांत परंपरा की भूमिका में ही निहित रही जो न्याय वैशेषिक आदि वास्तववादी दर्शनों की भूमिका में बिलकुल नहीं है। न्याय वैशेषिक, मीमांसक और सांख्य-योग दर्शन केवल विश्लेषण ही नहीं करते बल्कि समन्वय भी करते हैं। उनमें विश्लेषण और समन्वय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों का समप्राधान्य तथा समान बलत्व होने के कारण दोनों में से कोई एक ही सत्य नहीं है अतएव उन दर्शनों में अवास्तववाद के प्रवेश की न योग्यता है और न संभव ही है। अतएव उनमें नागार्जुन शंकराचार्य आदि जैसे अनेक सूक्ष्मप्रज्ञ विचारक होते हुए भी वे दर्शन वास्तववादी ही रहे। यही स्थिति जैन दर्शन की भी है। जैन दर्शन द्रव्य-द्रव्य के बीच विश्लेषण करते-करते अंत में सूक्ष्मतम पर्यायों के विश्लेषण तक पहुँचता है सही, पर यह विश्लेषण के अंतिम परिणाम स्वरूप पर्यायों को वास्तविक मानकर भी द्रव्य की वास्तविकता का परित्याग बौद्ध दर्शन की तरह नहीं करता। इस तरह वह पर्यायों और द्रव्यों का समन्वय करते करते एक सत् तत्त्व तक पहुँचता है और उसकी वास्तविकता को स्वीकार करके भी विश्लेषण के परिणाम स्वरूप द्रव्य भेदों और पर्यायों की वास्तविकता का परित्याग, ब्रह्मवादी दर्शन की तरह नहीं करता। क्योंकि वह पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक दोनों दृष्टियों को सापेक्ष भाव से तुल्यबल और समान सत्य मानता है। यही सबब है कि उसमें भी न बौद्ध परंपरा की तरह आत्यन्तिक विश्लेषण हुआ और न वेदान्त परंपरा की तरह आत्यन्तिक समन्वय। इससे जैन दृष्टि का वास्तववादित्व स्वरूप स्थिर ही रहा।

३. प्रमाण शक्ति की मर्यादा

विश्व क्या वस्तु है, वह कैसा है, उसमें कौन-से-कौन-से और कैसे-कैसे तत्त्व हैं, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर तत्त्व चिन्तकों ने एक ही प्रकार का नहीं दिया। इसका सबब यही है कि इस उत्तर का आधार प्रमाण की शक्ति पर निर्भर है और तत्त्वचिंतकों में प्रमाण की शक्ति के बारे में नाना मत हैं। भारतीय तत्त्वचिंतकों का प्रमाण शक्ति के तारतम्य संबंधी मतभेद संक्षेप में पाँच पक्षों में विभक्त हो जाता है—

१ इन्द्रियाधिपत्य, २ अनिन्द्रियाधिपत्य, ३ उभयाधिपत्य, ४ आगमाधिपत्य, ५ प्रमाणोपप्लव।

१—जिस पक्ष का मंतव्य यह है कि प्रमाण की सारी शक्ति इन्द्रियों के ऊपर ही अवलम्बित है, मन खुद इन्द्रियों का अनुगमन कर सकता है पर वह इन्द्रियों की मदद के सिवाय कहीं भी अर्थात् जहाँ इन्द्रियों की पहुंच न हो वहाँ कभी प्रवृत्त होकर सच्चा ज्ञान पैदा कर ही नहीं सकता। सच्चे ज्ञान का अगर संभव है तो इन्द्रियों के द्वारा ही, वह इन्द्रियाधिपत्य पक्ष। इस पक्ष में चार्वाक दर्शन ही समाविष्ट है। यह नहीं कि चार्वाक अनुमान या शब्दव्यवहार रूप आगम आदि प्रमाणों को जो प्रतिदिन सर्वसिद्ध व्यवहार की वस्तु है, उसे न मानना हो फिर भी चार्वाक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने को प्रत्यक्षमात्रवादी कहता है; इसका अर्थ इतना ही है कि अनुमान, शब्द आदि कोई भी लौकिक प्रमाण क्यों न हो पर उसका प्रामाण्य इन्द्रियप्रत्यक्ष के सिवाय कभी संभव नहीं। अर्थात् इन्द्रिय प्रत्यक्ष से बाधित नहीं ऐसा कोई भी ज्ञानव्यापार अगर प्रमाण कहा जाए तो इसमें चार्वाक को आपत्ति नहीं।

२—अनिन्द्रिय के अंतःकरण-मन, चित्त और आत्मा ऐसे तीन अर्थ फलित होते हैं, जिनमें से चित्तरूप अनिन्द्रिय का आधिपत्य माननेवाला अनिन्द्रियाधिपत्य पक्ष है। इस पक्ष में विज्ञानवाद, शून्यवाद और शांकरवेदांत का समावेश है। इस पक्ष के अनुसार यथार्थ ज्ञान का संभव विशुद्ध चित्त के द्वारा ही माना जाता है। यह पक्ष इन्द्रियों की सत्यज्ञानजनन शक्ति का सर्वथा इन्कार करता है और कहता है कि इन्द्रियाँ वास्तविक ज्ञान कराने में पंगु ही नहीं बल्कि धोखेबाज भी अवश्य है। इसके मंतव्य का निष्कर्ष इतना ही है कि चित्त, खासकर ध्यानशुद्धसात्त्विक चित्त से बाधित या उसका संवाद प्राप्त न कर सकनेवाला कोई ज्ञान प्रमाण हो ही नहीं सकता चाहे वह भले ही लोकव्यवहार में प्रमाण रूप से माना जाता हो।

३—उभयाधिपत्य पक्ष वह है जो चार्वाक की तरह इन्द्रियों को ही सब कुछ मानकर इन्द्रिय निरपेक्ष मन का असामर्थ्य स्वीकार नहीं करता और न इन्द्रियों को पंगु या धोखेबाज मानकर केवल अनिन्द्रिय या चित्त का ही सामर्थ्य स्वीकार करता है। यह पक्ष मानता है कि चाहे मन की मदद से ही सही पर इन्द्रियाँ गुणसम्पन्न हो सकती हैं और वास्तविक ज्ञान पैदा कर सकती हैं। इसी तरह यह मानता है कि इन्द्रियों की मदद जहाँ नहीं है वहाँ भी अनिन्द्रिय यथार्थ ज्ञान कर सकता है। इसी से इसे उभयाधिपत्य पक्ष कहा है। इसमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसक, आदि दर्शनों का समावेश है। सांख्य-योग इन्द्रियों का साद्गुण्य मानकर भी अंतःकरण की स्वतंत्र यथार्थ शक्ति मानता है। न्याय-वैशेषिक आदि भी मन की वैसी ही शक्ति मानते हैं पर फर्क यह है कि सांख्य-योग आत्मा का स्वतंत्र प्रमाण सामर्थ्य नहीं मानते क्योंकि वे प्रमाण सामर्थ्य बुद्धि में ही मानकर पुरुष या चेतन को निरतिशय मानते हैं। जब कि न्याय-वैशेषिक चाहे ईश्वर के आत्मा का ही सही पर आत्मा का स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं। अर्थात् वे शरीर-मन का अभाव होने पर भी ईश्वर में ज्ञानशक्ति मानते हैं। वैभाषिक और सौत्रांतिक भी इसी पक्ष के अंतर्गत हैं। क्योंकि वे भी इन्द्रिय और मन दोनों का प्रमाणसामर्थ्य मानते हैं।

४—आगमाधिपत्य पक्ष वह है जो किसी न किसी विषय में आगम के सिवाय

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी इन्द्रिय या अनिन्द्रिय का प्रमाणसामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। यह पक्ष केवल पूर्व मीमांसक का ही है। यद्यपि वह अन्य विषयों में सांख्य-योगादि की तरह उभयाधिपत्य पक्ष का ही अनुगामी है। फिर भी धर्म और अधर्म इन दो विषयों में वह आगम मात्र का ही सामर्थ्य मानता है। यद्यपि वेदांत के अनुसार ब्रह्म के विषय में आगम का ही प्राधान्य है फिर भी वह आगमाधिपत्य पक्ष में इसलिए नहीं आ सकता कि ब्रह्म के विषय में ध्यानशुद्ध अंतःकरण का भी सामर्थ्य उसे मान्य है।

५— प्रमाणोपप्लव पक्ष वह है जो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय या आगम किसी का सद्गुण्य या सामर्थ्य स्वीकार नहीं करता। वह मानता है कि ऐसा कोई साधन गुणसम्पन्न है ही नहीं जो अबाधित ज्ञान की शक्ति रखता हो। सभी साधन उसके मन से पंगु या विप्रलंभक हैं। इसका अनुगामी तत्त्वोपप्लवादी कहलाता है जो आखिरी हद का चार्वाक ही है। यह पक्ष जयराशिकृत तत्त्वोपप्लव में स्पष्टतया प्रतिपादित हुआ है।

उक्त पांच में से तीसरा उभयाधिपत्य पक्ष ही जैनदर्शन का है क्योंकि वह जिस तरह इंद्रियों का स्वतंत्र सामर्थ्य मानता है उसी तरह वह अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का अलग-अलग भी स्वतंत्र सामर्थ्य मानता है। आत्मा के स्वतंत्र सामर्थ्य के विषय में न्याय-वैशेषिक आदि के मंतव्य से जैन दर्शन के मंतव्य में फर्क यह है कि जैन दर्शन सभी आत्माओं का स्वतंत्र प्रमाणसामर्थ्य वैसा ही मानता है जैसा न्याय आदि ईश्वर मात्र का। जैनदर्शन प्रमाणोपप्लव पक्ष का निराकरण इसलिए करता है कि उसे प्रमाणसामर्थ्य अवश्य इष्ट है। वह विज्ञान, शून्य और ब्रह्म इन तीनों वादों का निरास इसलिए करता है कि उसे इन्द्रियों का प्रमाणसामर्थ्य भी मान्य है। वह आगमाधिपत्य पक्ष का भी विरोधी है सो इसलिए कि उसे धर्माधर्म के विषय में अनिन्द्रिय अर्थात् मन और आत्मा दोनों का प्रमाणसामर्थ्य इष्ट है।

४—प्रमेयप्रदेश का विस्तार

जैसी प्रमाणशक्ति की मर्यादा वैसा ही प्रमेय का क्षेत्र विस्तार, अतएव मात्र इंद्रिय सामर्थ्य मानने वाले चार्वाक के सामने सिर्फ स्थूल या दृश्य विश्व का ही प्रमेयक्षेत्र रहा, जो एक या दूसरे रूप में अनिन्द्रिय प्रमाण का सामर्थ्य मानने वालों की दृष्टि में अनेकधा विस्तीर्ण हुआ। अनिन्द्रियसामर्थ्यवादी कोई क्यों न हो पर सबको स्थूल विश्व के अलावा एक सूक्ष्म विश्व भी नजर आया। सूक्ष्म विश्व का दर्शन उन सबका बराबर होने पर भी उनकी अपनी जुदी-जुदी कल्प-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नाओं के तथा परंपरागत भिन्न भिन्न कल्पनाओं के आधार पर सूक्ष्म प्रमेय के क्षेत्र में भी अनेक मत व सम्प्रदाय स्थिर हुए जिनको हम अति संक्षेप में दो विभागों में बाँटकर समझ सकते हैं। एक विभाग तो वह जिसमें जड़ और चेतन दोनों प्रकार के सूक्ष्म तत्त्वों को माननेवालों का समावेश होता है। दूसरा वह जिसमें केवल चेतन या चैतन्य रूप ही सूक्ष्म तत्त्व को माननेवालों का समावेश होता है। पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की अपेक्षा भारतीय तत्त्वज्ञान में यह एक ध्यान देने योग्य भेद है कि इसमें सूक्ष्म प्रमेय तत्त्व माननेवाला अभी तक कोई ऐसा नहीं हुआ जो स्थूल भौतिक विश्व की तह में एक मात्र सूक्ष्म जड़ तत्त्व ही मानता हो और सूक्ष्म जगत में चेतन तत्त्व का अस्तित्व ही न मानता हो। इसके विरुद्ध भारत में ऐसे तत्त्वज्ञ होते आए हैं जो स्थूल विश्व के अंतस्तल में एक मात्र चेतन तत्त्व का सूक्ष्म जगत मानते हैं। इसी अर्थ में भारत को चैतन्यवादी समझना चाहिए। भारतीय तत्त्वज्ञान के साथ पुनर्जन्म, कर्मवाद और बंध-मोक्ष की धार्मिक या आचरणलक्षी कल्पना भी मिली हुई है जो सूक्ष्म विश्व मानने वाले सभी को निर्विवाद मान्य है और सभी ने अपने २ तत्त्वज्ञान के ढांचे के अनुसार चेतन तत्त्व के साथ उसका मेल बिठाया है। इन सूक्ष्मतत्त्वदर्शी परम्पराओं में मुख्यतया चार वाद ऐसे देखे जाते हैं जिनके बलपर उस-उस परंपरा के आचार्यों ने स्थूल और सूक्ष्म विश्व का संबंध बतलाया है या कार्य-करण का मेल बिठाया है। वे वाद ये हैं—१ आरंभवाद, २ परिणामवाद, ३ प्रतीत्यसमुत्पादवाद, ४ विवर्तवाद।

आरम्भवाद के संक्षेप में चार लक्षण हैं— १–परस्पर भिन्न ऐसे अनंत मूल कारणों का स्वीकार, २–कार्य कारण का आत्यंतिक भेद ३–कारण नित्य हो या अनित्य पर कार्योत्पत्ति में उसका अपरिणामी ही रहना, ४–अपूर्व अर्थात् उत्पत्ति के पहले असत् ऐसे कार्य की उत्पत्ति या किञ्चित्कालीन सत्ता।

परिणामवाद के लक्षण ठीक आरंभवाद से उलटे हैं—१ एक ही मूल कारण का स्वीकार २–कार्यकारण का वास्तविक अभेद, ३—नित्य कारण का भी परिणामी होकर ही रहना तथा प्रवृत्त होना ४—कार्य मात्र का अपने-अपने कारण में और सब कार्यों का मूल कारण में तीनों काल में अस्तित्व अर्थात् अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति का सर्वथा इन्कार।

प्रतीत्यसमुत्पादवाद के तीन लक्षण हैं—१–कारण और कार्य का आत्यंतिक भेद, २—किसी भी नित्य या परिणामीकारण का सर्वथा अस्वीकार, ३—प्रथम से असत् ऐसे कार्यमात्र का उत्पाद।

विवर्तवाद के तीन लक्षण ये हैं–१-किसी एक पारमार्थिक सत्य का स्वी कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जो न उत्पादक है और न परिणामी, २–स्थूल या सूक्ष्म भासमान जगत् की उत्पत्ति का या उसे परिणाम मानने का सर्वथा निषेध, ३—स्थूल जगत् का अवास्तविक या काल्पनिक अस्तित्व अर्थात् मायिक भास मात्र।

१ आरम्भवाद

इसका मंतव्य यह है कि परमाणु रूप अनंत सूक्ष्म तत्त्व जुदे-जुदे हैं जिनके पारस्परिक संबंधों से स्थूल भौतिक जगत का नया ही निर्माण होता है जो फिर सर्वथा नष्ट भी होता है। इसके अनुसार वे सूक्ष्म आरंभक तत्त्व अनादि निधन हैं, अपरिणामी हैं। अगर फेरफार होता है तो उनके गुणधर्मों में ही होता है। इस वाद ने स्थूल भौतिक जगत का संबंध सूक्ष्म भूत के साथ लगाकर फिर सूक्ष्म चेतन तत्त्व का भी अस्तित्व माना है। उसने परस्पर भिन्न ऐसे अनंत चेतन तत्त्व माने जो अनादिनिधन एवं अपरिणामी ही हैं। इस वाद ने जैसे सूक्ष्म भूत तत्त्वों को अपरिणामी ही मानकर उनमें उत्पन्न नष्ट होने वाले गुण धर्मों के अस्तित्व की अलग कल्पना की वैसे ही चेतन तत्त्वों को अपरिणामी मानकर भी उनमें उत्पाद विनाशशाली गुण-धर्मों का अलग ही अस्तित्व स्वीकार किया है। इस मत के अनुसार स्थूल भौतिक विश्व का सूक्ष्म भूत के साथ तो उपादानोपादेय भाव संबंध है पर सूक्ष्म चेतन तत्त्व के साथ सिर्फ संयोग संबंध है।

२ परिणामवाद

इसके मुख्य दो भेद हैं (अ) प्रधानपरिणामवाद और (ब) ब्रह्म परिणामवाद।

(अ) प्रधानपरिणामवाद के अनुसार स्थूल विश्व के अंतस्तल में एक सूक्ष्म प्रधान नामक ऐसा तत्त्व है जो जुदे-जुदे अनंत परमाणुरूप न होकर उनसे भी सूक्ष्मतम स्वरूप में अखण्ड रूप से वर्तमान है और जो खुद ही परमाणुओं की तरह अपरिणामी न रहकर अनादि अनंत होते हुए भी नाना परिणामों में परिणत होता रहता है। इस वाद के अनुसार स्थूल भौतिक विश्व यह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व के दृश्य परिणामों के सिवाय और कुछ नहीं। इस वाद में परमाणुवाद की तरह सूक्ष्म तत्त्व अपरिणामी रहकर उसमें स्थूल भौतिक विश्व का नया निर्माण नहीं होता। पर वह सूक्ष्म प्रधान तत्त्व जो स्वयं परमाणु की तरह जड़ ही है, नाना दृश्य भौतिक रूप में बदलता रहता है। इस प्रधान परिणामवाद ने स्थूल विश्व का सूक्ष्म पर जड़ ऐसे एक मात्र प्रधान तत्त्व के साथ अभेद संबंध लगाकर सूक्ष्म जगत् में चेतन तत्त्वों का भी अस्तित्व स्वीकार किया। इस वाद के चेतन तत्त्व आरंभवाद की तरह अनंत ही हैं पर फर्क दोनों का यह है कि आरंभवाद के चेतन तत्त्व अपरिणामी होते हुए भी उत्पाद विनाश वाले गुण-धर्म युक्त हैं जब कि प्रधान परिणामवाद के चेतन तत्त्व ऐसे गुणधर्मों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से युक्त नहीं। वे स्वयं भी कूटस्थ होने से अपरिणामी हैं और निर्धर्मक होने से किसी उत्पाद-विनाशशाली गुणधर्म को भी धारण नहीं करते। उसका कहना यह है कि उत्पाद-विनाश वाले गुणधर्म जब सूक्ष्म भूत में देखे जाते हैं तब सूक्ष्म चेतन कुछ विलक्षण ही होना चाहिए। अगर सूक्ष्म चेतन चेतन होकर भी वैसे गुण-धर्म युक्त हों तब जड़ सूक्ष्म से उनका वैलक्षण्य क्या रहा? अतएव वह कहता है कि अगर सूक्ष्म चेतन का अस्तित्व मानना ही है तब तो सूक्ष्म भूत की अपेक्षा विलक्षणता लाने के लिए उन्हें न केवल निर्धर्मक ही मानना उचित है बल्कि अपरिणामी भी मानना जरूरी है। इस तरह प्रधान परिणामवाद में चेतन तत्त्व आए पर वे निर्धर्मक और अपरिणामी ही माने गए।

(ब) ब्रह्मपरिणामवाद जो प्रधानपरिणामवाद का ही विकसित रूप जान पड़ता है उसने यह तो मान लिया कि स्थूल विश्व के मूल में कोई सूक्ष्म तत्त्व है जो स्थूल विश्व का कारण है। पर उसने कहा कि ऐसा सूक्ष्म कारण जड़ प्रधान तत्त्व मानकर उससे भिन्न सूक्ष्म चेतन तत्त्व भी मानना और वह भी ऐसा कि जो अजागलस्तन की तरह सर्वथा अकिञ्चित्कर सो युक्ति संगत नहीं। उसने प्रधानवाद में चेतन तत्त्व के अस्तित्व की अनुपयोगिता को ही नहीं देखा बल्कि चेतन तत्त्व में अनंत संख्या की कल्पना को भी अनावश्यक समझा। इसी समझ से उसने सूक्ष्म जगत् की कल्पना ऐसी की जिससे स्थूल जगत की रचना भी घट सके और अकिञ्चित्कर ऐसे अनंत चेतन तत्त्वों की निष्प्रयोजन कल्पना का दोष भी न रहे। इसी से इस वाद ने स्थूल विश्व के अंतस्तल में जड़ चेतन ऐसे परस्पर विरोधी दो तत्त्व न मानकर केवल एक ब्रह्म नामक चेतन तत्त्व ही स्वीकार किया और उसका प्रधान परिणाम की तरह परिणाम मान लिया जिससे उसी एक चेतन ब्रह्म तत्त्व में से दूसरे जड़ चेतनमय स्थूल विश्व का आविर्भाव-तिरोभाव घट सके। प्रधान परिणामवाद और ब्रह्म परिणामवाद में फर्क इतना ही है कि पहले में जड़ परिणामी ही है और चेतन अपरिणामी ही है जब दूसरे में अंतिम सूक्ष्म तत्त्व एक मात्र चेतन ही है जो स्वयं ही परिणामी है और उसी चेतन में से आगे के जड़ चेतन ऐसे दो परिणाम प्रवाह चले।

३—प्रतीत्यसमुत्पादवाद

यह भी स्थूल भूत के नीचे जड़ और चेतन ऐसे दो सूक्ष्म तत्त्व मानता है जो क्रमशः रूप और नाम कहलाते हैं। इस वाद के जड़ और चेतन दोनों सूक्ष्म तत्त्व परमाणुरूप हैं, आरंभवाद की तरह केवल जड़ तत्त्व ही परमाणु रूप नहीं। इस वाद में परमाणु का स्वीकार होते हुए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी उसका स्वरूप आरंभवाद के परमाणु से बिलकुल भिन्न माना गया है। आरंभवाद में परमाणु अपरिणामी होते हुए भी उनमें गुणधर्मों की उत्पादविनाश परंपरा अलग मानी जाती है। जब कि यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद उस गुणधर्मों की उत्पादविनाश परंपरा को ही अपने मत में विशिष्ट रूप से ढालकर उसके आधारभूत स्थायी परमाणु द्रव्यों को बिलकुल नहीं मानता। इसी तरह चेतन तत्त्व के विषय में भी यह वाद कहता है कि स्थायी ऐसे एक या अनेक कोई चेतन तत्त्व नहीं। यद्यपि सूक्ष्म जड़ उत्पादविनाशशाली परंपरा की तरह दूसरी चैतन्यरूप उत्पादविनाशशाली परंपरा भी मूल में जड़ से भिन्न ही सूक्ष्म जगत में विद्यमान है जिसका कोई स्थायी आधार नहीं। इस वाद के परमाणु इसलिए परमाणु कहलाते हैं कि वे सबसे अतिसूक्ष्म और अविभाज्य मात्र हैं। पर इस लिए परमाणु नहीं कहलाते कि वे कोई अविभाज्य स्थायी द्रव्य हों। यह वाद कहता है कि गुणधर्म रहित कूटस्थ चेतन तत्त्व जैसे अनुपयोगी हैं वैसे ही गुणधर्मों का उत्पादविनाश मान लेने पर उसके आधार रूप से फिर स्थायी द्रव्य की कल्पना करना भी निरर्थक है। अतएव इस वाद के अनुसार सूक्ष्म जगत में दो धाराएँ फलित होती हैं जो परस्पर बिलकुल भिन्न होकर भी एक दूसरे के असर से खाली नहीं। प्रधान परिणाम या ब्रह्म परिणामवाद से इस वाद में फर्क यह है कि इसमें उक्त दोनों वादों की तरह किसी भी स्थायी द्रव्य का अस्तित्व नहीं माना जाता। ऐसा शंकु या कीलक स्थानीय स्थायी द्रव्य न होते हुए भी पूर्व परिणाम क्षण का यह स्वभाव है कि वह नष्ट होते-होते दूसरे परिणाम क्षण को पैदा करता ही जाएगा अर्थात् उत्तर परिणाम क्षण विनाशोन्मुख पूर्व परिणाम के अस्तित्वमात्र के आश्रय से आप ही आप निराधार उत्पन्न हो जाता है। इसी मान्यता के कारण यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद कहलाता है। वस्तुतः प्रतीत्यसमुत्पादवाद परमाणु वाद भी है और परिणामवाद भी। फिर भी तात्त्विक रूप में वह दोनों से भिन्न है।

४—विवर्तवाद—विवर्तवाद के मुख्य दो भेद—

विवर्तवाद के मुख्य दो भेद हैं—(अ) नित्य ब्रह्मविवर्त और (ब) क्षणिक विज्ञान विवर्त। दोनों विवर्तवाद के अनुसार स्थूल विश्व यह निरा भासमात्र या कल्पना मात्र है जो माया या वासनाजनित है। विवर्तवाद का अभिप्राय यह है कि जगत् या विश्व कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जिसमें बाह्य और आन्तरिक या स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व अलग-अलग और खण्डित हों। विश्व में जो कुछ वास्तविक सत्य हो सकता है वह एक ही हो सकता है क्योंकि विश्व वस्तुतः अखण्ड और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविभाज्य ही है। ऐसी दशा में जो बाह्यत्व-आन्तरत्व, ह्रस्वत्व-दीर्घत्व, दूरत्व-समीपत्व आदि धर्म-द्वन्द्व मालूम होते हैं वे मात्र काल्पनिक हैं। अतएव इस वाद के अनुसार लोक सिद्ध स्थूल विश्व केवल काल्पनिक और प्रातिभासिक सत्य है। पारमार्थिक सत्य उसकी तह में निहित है जो विशुद्ध ध्यानगम्य होने के कारण अपने असली स्वरूप में प्राकृतजनों के द्वारा ग्राह्य नहीं।

न्याय वैशेषिक और पूर्व मीमांसक आरंभवादी हैं। प्रधान परिणामवाद सांख्य-योग और चरक का है। ब्रह्म परिणामवाद के समर्थक भर्तृप्रपञ्च आदि प्राचीन वेदांती और आधुनिक वल्लभाचार्य हैं। प्रतीत्यसमुत्पादवाद बौद्धों का है और विवर्तवाद के समर्थक शांकर वेदान्ती, विज्ञानवादी और शून्यवादी हैं।

ऊपर जिन वादों का वर्णन किया है उनके उपादानरूप विचारों का ऐतिहासिक क्रम संभवतः ऐसा जान पड़ता है—शुरू में वास्तविक कार्यकारणभाव की खोज जड़ जगत तक ही रही। वहीं तक वह परिमित रहा। क्रमशः स्थूल के उस पार चेतन तत्त्व की शोध-कल्पना होते ही दृश्य और जड़ जगत में प्रथम से ही सिद्ध उस कार्य कारण भाव की परिणामिनित्यतारूप से चेतन तत्त्व तक पहुँच हुई। चेतन भी जड़ की तरह अगर परिणामिनित्य हो तो फिर दोनों में अंतर ही क्या रहा? इस प्रश्न ने फिर चेतन को कायम रखकर उसमें कूटस्थ नित्यता मानने की ओर तथा परिणामिनित्यता या कार्यकारणभाव को जड़ जगत तक ही परिमित रखने की ओर विचारकों को प्रेरित किया। चेतन में मानी जानेवाली कूटस्थ नित्यता का परीक्षण फिर शुरू हुआ। जिसमें से अंततोगत्वा केवल कूटस्थ नित्यता ही नहीं बल्कि जड़ जगत की परिणामिनित्यता भी लुप्त होकर मात्र परिणमन धारा ही शेष रही। इस प्रकार एक तरफ आत्यंतिक विश्लेषण ने मात्र परिणाम या क्षणिकत्व विचार को जन्म दिया तब दूसरी ओर आत्यंतिक समन्वय बुद्धि ने चैतन्यमात्र पारमार्थिक वाद को जन्माया। समन्वय बुद्धि ने अंत में चैतन्य तक पहुँच कर सोचा कि जब सर्वव्यापक चैतन्य तत्त्व है तब उससे भिन्न जड़ तत्त्व की वास्तविकता क्यों मानी जाए? और जब कोई जड़ तत्त्व अलग नहीं तब वह दृश्यमान परिणमन-धारा भी वास्तविक क्यों? इस विचार ने सारे भेद और जड़ जगत को मात्र काल्पनिक मनवाकर पारमार्थिक चैतन्यमात्रवाद की स्थापना कराई।

उक्त विचार क्रम के सोपान इस तरह रखे जा सकते हैं—

१—जड़मात्र में परिणामिनित्यता।

२—जड़ चेतन दोनों में परिणामिनित्यता।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३—जड़ में परिणामि नित्यता और चेतन में कूटस्थ नित्यता का विवेक।

४—(अ) कूटस्थ और परिणामि दोनों नित्यता का लोप और मात्र परिणाम-प्रवाह की सत्यता।

(ब) केवल कूटस्थ चैतन्य की ही या चैतन्य मात्र की सत्यता और तद्भिन्न सब की काल्पनिकता या असत्यता।

जैन परंपरा दृश्य विश्व के अलावा परस्पर अत्यंत भिन्न ऐसे जड़ और चेतन अनन्त सूक्ष्म तत्त्वों को मानती है। वह स्थूल जगत को सूक्ष्म जड़ तत्त्वों का ही कार्य या रूपान्तर मानतीं है। जैन परंपरा के सूक्ष्म जड़ तत्त्व परमाणु रूप हैं। पर वे आरंभवाद के परमाणु की अपेक्षा अत्यंत सूक्ष्म माने गए हैं। परमाणुवादी होकर भी जैन दर्शन परिणामवाद की तरह परमाणुओं को परिणामी मानकर स्थूल जगत को उन्हीं का रूपान्तर या परिणाम मानता है। वस्तुतः जैन दर्शन परिणाम-वादी है। पर सांख्ययोग तथा प्राचीन वेदान्त आदि के परिणामवाद से जैन परिणामवाद का खास अन्तर है। वह अन्तर यह है कि सांख्ययोग का परिणाम-वाद चेतन तत्त्व से अस्पृष्ट होने के कारण जड़ तक ही परिमित है और भर्तृप्रपञ्च आदि का परिणामवाद मात्र चेतनतत्त्वस्पर्शी है। जब कि जैन परिणामवाद जड़-चेतन, स्थूल-सूक्ष्म समग्र वस्तुस्पर्शी है। अतएव जैन परिणामवाद को सर्वव्यापक परिणामवाद समझना चाहिए। भर्तृप्रपञ्च का परिणामवाद भी सर्वव्यापक कहा जा सकता है फिर भी उसके और जैन के परिणामवाद में अन्तर यह है कि भर्तृप्रपञ्च का 'सर्व' चेतन ब्रह्म मात्र है, तद्भिन्न और कुछ नहीं जब कि जैन का सर्व अनन्त जड़ और चेतन तत्त्वों का है। इस तरह आरंभ और परिणाम दोनों वादों का जैन दर्शन में व्यापक रूप में पूरा स्थान तथा समन्वय है। पर उसमें प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का कोई स्थान नहीं है। वस्तु मात्र को परिणामी नित्य और समान रूप से वास्तविक सत्य मानने के कारण जैन दर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद तथा विवर्तवाद का सर्वथा विरोध ही करता है जैसा कि न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि भी करते हैं। न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग आदि की तरह जैन दर्शन चेतन बहुत्ववादी है सही, पर उसके चेतन तत्त्व अनेक दृष्टि से भिन्न स्वरूप वाले हैं। जैनदर्शन, न्याय, सांख्य आदि की तरह चेतन को न सर्वव्यापक द्रव्य मानता है और न विशिष्टाद्वैत आदि की तरह अणुमात्र ही मानता है और न बौद्ध दर्शन की तरह ज्ञान की निर्द्रव्यक-धारामात्र। जैनाभिमत समग्र चेतन तत्त्व मध्यम परिमाणवाले और संकोच-विस्तारशील होने के कारण इस विषय में जड़ द्रव्यों से अत्यन्त विलक्षण नहीं। न्याय-वैशेषिक और योग दर्शन मानते हैं कि आत्मत्व या चेतनत्व समान होने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भी जीवात्मा और परमात्मा के बीच मौलिक भेद है अर्थात् जीवात्मा कभी परमात्मा या ईश्वर नहीं और परमात्मा सदा से ही परमात्मा या ईश्वर है कभी जीव-बंधनवान नहीं होता। जैन दर्शन इससे बिलकुल उल्टा मानता है जैसा कि वेदान्त आदि मानते हैं। वह कहता है कि जीवात्मा और ईश्वर का कोई सहज भेद नहीं। सब जीवात्माओं में परमात्मशक्ति एक सी है जो साधन पाकर व्यक्त हो सकती है और होती भी है। अलबत्ता जैन और वेदांत का इस विषय में इतना अन्तर अवश्य है कि वेदान्त एक परमात्मवादी है जब जैनदर्शन चेतन बहुत्ववादी होने के कारण तात्त्विकरूप से बहुपरमात्मवादी है।

जैन परंपरा के तत्त्वप्रतिपादक प्राचीन, अर्वाचीन, प्राकृत, संस्कृत कोई भी ग्रंथ क्यों न हों पर उन सब में निरूपण और वर्गीकरण प्रकार भिन्न-भिन्न होने पर भी प्रतिपादक दृष्टि और प्रतिपाद्य प्रमेय, प्रमाता आदि का स्वरूप वही है जो संक्षेप में ऊपर स्पष्ट किया गया। 'प्रमाण मीमांसा' भी उसी जैन दृष्टि से उन्हीं जैन मान्यताओं का हार्द अपने ढंग से प्रगट करती है।

२—बाह्यस्वरूप

प्रस्तुत 'प्रमाण मीमांसा' के बाह्यस्वरूप का परिचय निम्नलिखित मुद्दों के वर्णन से हो सकेगा—शैली, विभाग, परिमाण और भाषा।

प्रमाण मीमांसा सूत्रशैली का ग्रन्थ है। वह कणाद सूत्रों या तत्त्वार्थ सूत्रों की तरह न दश अध्यायों में है और न जैमिनीय सूत्रों की तरह बारह अध्यायों में। बादरायण सूत्रों की तरह चार अध्याय भी नहीं और पातञ्जल सूत्रों की तरह चारपाद ही नहीं। वह अक्षपाद के सूत्रों की तरह पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय कणाद या अक्षपाद के अध्याय की तरह दो-दो आह्निकों में विभक्त है। हेमचन्द्र ने अपने जुदे-जुदे विषय के ग्रंथों में विभाग के जुदे-जुदे क्रम का अवलम्बन करके अपने समय तक में प्रसिद्ध संस्कृत वाङ्मय के प्रतिष्ठित सभी शाखाओं के ग्रन्थों के विभागक्रम को अपने साहित्य में अपनाया है। किसी में उन्होंने अध्याय और पाद का विभाग रखा, कहीं अध्याय मात्र का और कहीं पर्व, सर्ग, काण्ड आदि का। प्रमाण मीमांसा तर्क ग्रंथ होने के कारण उसमें उन्होंने अक्षपाद के प्रसिद्ध न्यायसूत्रों के अध्याय-आह्निक का ही विभाग रखा, जो हेमचंद्र के पूर्व अकलंक ने जैन वाङ्मय में शुरू किया था।

प्रमाण मीमांसा पूर्ण उपलब्ध नहीं। उसके मूल सूत्र भी उतने ही मिलते हैं जितनों की वृत्ति लभ्य है। अतएव अगर उन्होंने सब मूल सूत्र रचे भी हों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तब भी पता नहीं चल सकता है कि उनकी कुल संख्या कितनी होगी। उपलब्ध सूत्र सौ ही हैं और उतने ही सूत्रों की वृत्ति भी है। अंतिम उपलब्ध २–१–३५ की वृत्ति पूरी होने के बाद एक नए सूत्र का उत्थान उन्होंने शुरू किया है और उस अधूरे उत्थान में ही खण्डित लभ्य ग्रंथ पूर्ण हो जाता है। मालूम नहीं कि इसके आगे कितने सूत्रों से वह आह्निक पूरा होता? जो कुछ हो पर उपलब्ध ग्रंथ दो अध्याय तीन आह्निक मात्र है जो स्वोपज्ञ वृत्ति सहित ही है।

यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि प्रमाण मीमांसा किस भाषा में है, पर उसकी भाषा विषयक योग्यता के बारे में थोड़ा जान लेना जरूरी है। इसमें संदेह नहीं कि जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा के प्रवेश के बाद उत्तरोत्तर संस्कृत भाषा का वैशारद्य और प्राञ्जल लेखपाटव बढ़ता ही आ रहा था फिर भी हेमचंद्र का लेख-वैशारद्य, कम से कम जैन वाङ्मय में तो मूर्धन्य स्थान रखता है। वैयाकरण, आलंकारिक, कवि और कोषकार रूप से हेमचंद्र का स्थान न केवल समग्र जैन परंपरा में बल्कि भारतीय विद्वत्परंपरा में भी असाधारण रहा। यही उनकी असाधारणता और व्यवहारदक्षता प्रमाण-मीमांसा की भाषा व रचना में स्पष्ट होती है। भाषा उनकी वाचस्पति मिश्र की तरह नपी-तुली और शब्दाडम्बर शून्य सहज प्रसन्न है। वर्णन में न उतना संक्षेप है जिससे वक्तव्य अस्पष्ट रहे और न इतना विस्तार है जिससे ग्रंथ केवल शोभा की वस्तु बना रहे।

३–जैन तर्क साहित्य में प्रमाण मीमांसा का स्थान

जैन तर्क साहित्य में प्रमाण मीमांसा का स्थान क्या है, इसे समझने के लिए जैन साहित्य के परिवर्तन या विकास संबंधी युगों का ऐतिहासिक अवलोकन करना जरूरी है। ऐसे युग संक्षेप में तीन हैं—१–आगमयुग, २–संस्कृत प्रवेश या अनेकांतस्थापन युग, ३—न्याय-प्रमाण स्थापन युग।

पहला युग भगवान महावीर या उनके पूर्ववर्ती भागवान् पार्श्वनाथ से लेकर आगम संकलना–विक्रमीय पंचम-षष्ठ शताब्दी तक का करीब हजार बारह सौ वर्ष का है। दूसरा युग करीब दो शताब्दियों का है जो करीब विक्रमीय छठी शताब्दी से शुरू होकर सातवीं शताब्दी तक में पूर्ण होता है। तीसरा युग विक्रमीय आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक करीब एक हजार वर्ष का है।

सांप्रदायिक संघर्ष और दार्शनिक तथा दूसरी विविध विद्याओं के विकास

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विस्तार के प्रभाव के सबब से जैन परंपरा की साहित्य की अंतर्मुख या बहिर्मुख प्रवृत्ति में कितना ही युगांतर जैसा स्वरूप भेद या परिवर्तन क्यों न हुआ पर जैसा हमने पहले सूचित किया है वैसा ही अथ से इति तक देखने पर भी हमें न जैन दृष्टि में परिवर्तन मालूम होता है और न उसके बाह्य–आभ्यंतर तात्त्विक मंतव्यों में।

१–आगम युग

इस युग में भाषा की दृष्टि से प्राकृत या लोक भाषाओं की ही प्रतिष्ठा रही जिससे संस्कृत भाषा और उसके वाङ्मय के परिशीलन की ओर आत्यंतिक उपेक्षा होना सहज था जैसा कि बौद्ध परंपरा में भी था। इस युग का प्रमेय निरूपण आचारलक्षी होने के कारण उसमें मुख्यतया स्वमत प्रदर्शन का ही भाव है। राजसभाओं और इतर वादगोष्ठियों में विजय भावना से प्रेरित होकर शास्त्रार्थ करने की तथा खण्डनप्रधान ग्रंथनिर्माण की प्रवृत्ति का भी इस युग में अभाव सा है। इस युग का प्रधान लक्षण जड़-चेतन के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन तथा अहिंसा, संयम, तप आदि आचारों का निरूपण करना है।

आगमयुग और संस्कृत युग के साहित्य का पारस्परिक अंतर संक्षेप में कहा जा सकता है कि पहिले युग का जैन साहित्य बौद्ध साहित्य की तरह अपने मूल उद्देश्य के अनुसार लोकभोग्य ही रहा है। जब कि संस्कृत भाषा और उसमें निबद्ध तर्क साहित्य के अध्ययन की व्यापक प्रवृत्ति के बाद उसका निरूपण सूक्ष्म और विशद होता गया है सही पर साथ ही साथ वह इतना जटिल भी होता गया कि अंत में संस्कृत कालीन साहित्य लोकभोग्यता के मूल उद्देश्य से च्युत होकर केवल विद्वद्भोग्य ही बनता गया।

२–संस्कृत प्रवेश या अनेकान्तस्थापन युग

संभवतः वाचक उमास्वाति या तत्सदृश अन्य आचार्यों के द्वारा जैन वाङ्मय में संस्कृत भाषा का प्रवेश होते ही दूसरे युग का परिवर्तनकारी लक्षण शुरू होता है जो बौद्ध परंपरा में तो अनेक शताब्दी पहिले ही शुरू हो गया था। इस युग में संस्कृत भाषा के अभ्यास की तथा उसमें ग्रंथप्रणयन की प्रतिष्ठा स्थिर होती है। इसमें राजसभा प्रवेश, परवादियों के साथ वादगोष्ठी और परमत खंडन की प्रधान दृष्टि से स्वमतस्थापक ग्रंथों की रचना—ये प्रधानतया नजर आते हैं। इस युग में सिद्धसेन जैसे एक-आध आचार्य ने जैन-न्याय की व्यवस्था दर्शाने वाला एक-आध ग्रंथ भले ही रचा हो पर अब तक इस युग में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन न्याय या प्रमाणशास्त्रों की न तो पूरी व्यवस्था हुई जान पड़ती है और न तद्विषयक तार्किक साहित्य का निर्माण ही देखा जाता है। इस युग के जैन तार्किकों की प्रवृत्ति की प्रधान दिशा दार्शनिक क्षेत्रों में एक ऐसे जैन मंतव्य की स्थापना की ओर रही है जिसके बिखरे हुए और कुछ स्पष्ट-अस्पष्ट बीज आगम में रहे और जो मंतव्य आगे जाकर भारतीय सभी दर्शन परंपरा में एक मात्र जैन परंपरा का ही समझा जाने लगा तथा जिस मंतव्य के नाम पर आज तक सारे जैन दर्शन का व्यवहार किया जाता है, वह मंतव्य है अनेकांतवाद का। दूसरे युग में सिद्धसेन हो या समंतभद्र, मल्लवादी हो या जिनभद्र सभी ने दर्शनांतरों के सामने अपने जैनमत की अनेकांत दृष्टि तार्किक शैली से तथा परमत खंडन के अभिप्राय से इस तरह रखी है कि जिससे इस युग को अनेकांतस्थापन युग ही कहना समुचित होगा। हम देखते हैं कि उक्त आचार्यों के पूर्ववर्ती किसी के प्राकृत या संस्कृत ग्रंथ में न तो वैसी अनेकांत की तार्किक स्थापना है और न अनेकांत मूलक सप्तभंगी और नयवाद का वैसा तार्किक विश्लेषण है, जैसा हम सम्मति, द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका, न्यायावतार स्वयंभूस्तोत्र, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, नयचक्र और विशेषावश्यक भाष्य में पाते हैं। इस युग के तर्क-दर्शननिष्णात जैन आचार्यों ने नयवाद, सप्तभंगी और अनेकांतवाद की प्रबल और स्पष्ट स्थापना की ओर इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि जिसके कारण जैन और जैनेतर परंपराओं में जैन दर्शन अनेकान्तदर्शन के नाम से ही प्रतिष्ठित हुआ। बौद्ध तथा ब्राह्मण दार्शनिक पण्डितों का लक्ष्य अनेकांतखण्डन की ओर गया तथा वे किसी न किसी प्रकार से अपने ग्रंथों में मात्र अनेकांत या सप्तभंगी का खण्डन करके ही जैन दर्शन के मंतव्यों के खण्डन की इतिश्री समझने लगे। इस युग की अनेकांत और तन्मूलक वादों की स्थापना इतनी गहरी हुई कि जिस पर उत्तरवर्ती अनेक जैनाचार्यों ने अनेकधा पल्लवन किया है फिर भी उसमें नई मौलिक युक्तियों का शायद ही समावेश हुआ है। दो सौ वर्ष के इस युग की साहित्यिक प्रवृत्ति में जैनन्याय और प्रमाणशास्त्र की पूर्व भूमिका तो तैयार हुई जान पड़ती है पर इसमें उस शास्त्र का व्यवस्थित निर्माण देखा नहीं जाता। इस युग की परमतों के सयुक्तिक खण्डन और दर्शनांतरीय समर्थ विद्वानों के सामने स्वमत के प्रतिष्ठित स्थापन की भावना ने जैन परंपरा में संस्कृत भाषा के तथा संस्कृतनिबद्ध दर्शनांतरीय प्रतिष्ठित ग्रंथों के परिशीलन की प्रबल जिज्ञासा पैदा कर दी और उसी ने समर्थ जैन आचार्यों का लक्ष्य अपने निजी न्याय तथा प्रमाणशास्त्र के निर्माण की ओर खींचा जिसकी कमी बहुत ही अखर रही थी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३—न्याय-प्रमाण स्थापन युग

उसी परिस्थिति में से अकलंक जैसे धुरंधर व्यवस्थापक का जन्म हुआ। सम्भवतः अकलंक ने ही पहले पहल सोचा कि जैन परंपरा के ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता आदि सभी पदार्थों का निरूपण तार्किक शैली से संस्कृत भाषा में वैसा ही शास्त्र-बद्ध करना आवश्यक है जैसा ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा के साहित्य में बहुत पहले से हो गया है और जिसका अध्ययन अनिवार्य रूप से जैन तार्किक करने लगे हैं। इस विचार से अकलङ्क ने द्विमुखी प्रवृत्ति शुरू की। एक तो बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सूक्ष्म परिशीलन और दूसरी ओर समस्त जैन मंतव्यों का तार्किक विश्लेषण। केवल परमतों को निरास करने ही से अकलङ्क का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता था। अतएव दर्शनांतरीय शास्त्रों के सूक्ष्म परिशीलन में से और जैनमत के तलस्पर्शी ज्ञान से उन्होंने छोटे-छोटे पर समस्त जैन तर्क प्रमाण के शास्त्र के आधारस्तम्भभूत अनेक न्याय-प्रमाण विषयक प्रकरण रचे जो दिङ्नाग और खासकर धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध तार्किकों के तथा उद्योतकर, कुमारिल आदि जैसे ब्राह्मण तार्किकों के प्रभाव से भरे हुए होने पर भी जैन मंतव्यों की बिलकुल नए सिरे और स्वतंत्र भाव से स्थापना करते हैं। अकलंक ने न्याय-प्रमाणशास्त्र का जैन परंपरा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परिच्छेद किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वादकथा आदि परमत-प्रसिद्ध वस्तुओं के संबंध में जो जैन-प्रणाली स्थिर की, संक्षेप में अब तक में जैन परंपरा में नहीं पर अन्य परंपराओं में प्रसिद्ध ऐसे तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों को जैनदृष्टि से जैन परंपरा में जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मंतव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रंथों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय-प्रमाण स्थापन युग का द्योतक है।

अकलङ्क के द्वारा प्रारब्ध इस युग में साक्षात् या परंपरा से अकलङ्क के शिष्य-प्रशिष्यों ने ही उनके सूत्र स्थानीय ग्रंथों को बड़े-बड़े टीका ग्रंथों से वैसे ही अलंकृत किया जैसे धर्मकीर्ति के ग्रंथों को उनके शिष्यों ने।

अनेकांत युग की मात्र पद्यप्रधान रचना को अकलङ्क ने गद्य-पद्य में परिवर्तित किया था पर उनके उत्तरवर्ती अनुगामियों ने उस रचना को नाना रूपों में परिवर्तित किया, जो रूप बौद्ध और ब्राह्मण परंपरा में प्रतिष्ठित हो चुके थे। माणिक्यनंदी अकलङ्क के ही विचार दोहन में से सूत्रों का निर्माण करते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विद्यानंद अकलङ्क के ही सूत्रों पर या तो भाष्य रचते हैं या पद्यवार्तिक बनाते हैं या दूसरे छोटे २ अनेक प्रकरण बनाते हैं। अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र और वादिराज जैसे तो अकलङ्क के संक्षिप्त सूत्रों पर इतने बड़े और विशद तथा जटिल भाष्य व विवरण कर डालते हैं कि जिससे तब तक में विकसित दर्शनांतरीय विचार परंपराओं का एक तरह से जैन वाङ्मय में समावेश हो जाता है। दूसरी तरफ श्वेताम्बर परंपरा के आचार्य भी उसी अकलङ्क स्थापित प्रणाली की ओर झुकते हैं। हरिभद्र जैसे आगमिक और तार्किक ग्रन्थकार ने तो सिद्धसेन और समंतभद्र आदि के मार्ग का प्रधानतया अनेकांतजयपताका आदि में अनुसरण किया पर धीरे २ न्याय-प्रमाण विषयक स्वतंत्रग्रन्थ प्रणयन की प्रवृत्ति भी श्वेताम्बर परंपरा में शुरू हुई। श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार रचा था। पर वह निरा प्रारम्भ मात्र था। अकलङ्क ने जैन न्याय की सारी व्यवस्था स्थिर कर दी। हरिभद्र ने दर्शनांतरीय सब वार्ताओं का समुच्चय भी कर दिया। इस भूमिका को लेकर शांत्याचार्य जैसे श्वेताम्बार तार्किक ने तर्कवार्तिक जैसा छोटा किन्तु सारगर्भ ग्रन्थ रचा। इसके बाद तो श्वेताम्बर परंपरा में न्याय और प्रमाण ग्रन्थों के संग्रह का, परिशीलन का और नए नए ग्रन्थ निर्माण का ऐसा पूर आया कि मानों समाज में तब तक ऐसा कोई प्रतिष्ठित विद्वान् ही न समझा जाने लगा जिसने संस्कृत भाषा में खास कर तर्क या प्रमाण पर मूल या टीका रूप से कुछ न कुछ लिखा न हो। इस भावना में से ही अभयदेव का वादार्णव तैयार हुआ जो संभवतः तब तक के जैन संस्कृत ग्रन्थों में सब से बड़ा है। पर जैन परंपरा पोषक गुजरात गत सामाजिक–राजकीय सभी बलों का सब से अधिक उपयोग वादिदेव सूरि ने किया। उन्होंने अपने ग्रंथ का स्याद्वादरत्नाकर यथार्थ ही नाम रखा। क्योंकि उन्होंने अपने समय तक में प्रसिद्ध सभी श्वेताम्बर-दिगम्बरों के तार्किक विचारों का दोहन अपने ग्रंथ में रख दिया जो स्याद्वाद ही था। साथ ही उन्होंने अपनी जानीब से ब्राह्मण और बौद्ध परंपरा की किसी भी शाखा के मंतव्यों की विस्तृत चर्चा अपने ग्रंथ में न छोड़ी। चाहे विस्तार के कारण वह ग्रंथ पाठ्य रहा न हो पर तर्कशास्त्र के निर्माण में और विस्तृत निर्माण में प्रतिष्ठा माननेवाले जैनमत की बदौलत एक रत्नाकर जैसा समग्र मंतव्यरत्नों का संग्रह बन गया जो न केवल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही उपयोगी है पर ऐतिहासिक दृष्टि से भी बड़े महत्त्व का है।

आगमिक साहित्य के प्राचीन और अति विशाल खजाने के उपरांत तत्त्वार्थ से लेकर स्याद्वादरत्नाकर तक के संस्कृत व तार्किक जैन साहित्य की भी बहुत बड़ी राशि हेमचन्द्र के परिशीलन पथ में आई जिससे हेमचन्द्र का सर्वाङ्गीण

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सर्जक व्यक्तित्व संतुष्ट होने के बजाय एक ऐसे नए सर्जन की ओर प्रवृत्त हुआ जो तब तक के जैन वाङ्मय में अपूर्व स्थान रख सके।

दिङ्नाग के न्यायमुख, न्यायप्रवेश आदि से प्रेरित होकर सिद्धसेन ने जैन परंपरा में न्याय-परार्थानुमान का अवतार कर ही दिया था। समंतभद्र ने अक्षपाद के प्रावादुकों (अध्याय चतुर्थ) के मतनिरास की तरह आप्त की मीमांसा के बहाने सप्तभंगी की स्थापना में परप्रवादियों का निरास कर ही दिया था। तथा उन्होंने जैनेतर शासनों से जैन शासन की विशेष सयुक्तिकता का अनुशासन भी युक्त्यनुशासन में कर ही दिया था। धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक, प्रमाणविनिश्चय आदि से बल पाकर तीक्ष्ण दृष्टि अकलङ्क ने जैन न्याय का विशेषनिश्चय-व्यवस्थापन तथा जैन प्रमाणों का संग्रह अर्थात् विभाग, लक्षण आदि द्वारा निरूपण अनेक तरह से कर दिया था। अकलङ्क ने सर्वज्ञत्व जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ बौद्धों को जवाब भी दिया था। सूक्ष्मप्रज्ञ विद्यानंद ने आप्त की, पत्र की और प्रमाणों की परीक्षा द्वारा धर्मकीर्ति की तथा शांतरक्षित की विविध परीक्षाओं का जैन परंपरा में सूत्रपात भी कर ही दिया था। माणिक्यनंदी ने परीक्षामुख के द्वारा न्यायबिंदु के से सूत्रग्रंथ की कमी को दूर कर ही दिया था। जैसे धर्मकीर्ति के अनुगामी विनीतदेव, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, अर्चट आदि प्रखर तार्किकों ने उनके सभी मूल ग्रंथों पर छोटे-बड़े भाष्य या विवरण लिखकर उनके ग्रंथों को पठनीय तथा विचारणीय बनाकर बौद्ध न्यायशास्त्र को प्रकर्ष की भूमिका पर पहुँचाया था वैसे ही एक तरफ से दिगम्बर परंपरा में अकलङ्क के संक्षिप्त पर गहन सूत्रों पर उनके अनुगामी अनंतवीर्य, विद्यानंद, प्रभाचंद्र और वादिराज जैसे विशारद तथा पुरुषार्थी तार्किकों ने विस्तृत व गहन भाष्य-विवरण आदि रचकर जैन न्याय शास्त्र को अतिसमृद्ध बनाने का सिलसिला भी जारी कर ही दिया था और दूसरी तरफ से श्वेताम्बर परंपरा में सिद्धसेन के संस्कृत तथा प्राकृत तर्क प्रकरणों को उनके अनुगामियों ने टीकाग्रंथों से भूषित करके उन्हें विशेष सुगम तथा प्रचारणीय बनाने का भी प्रयत्न इसी युग में शुरू किया था। इसी सिलसिले में से प्रभाचंद्र के द्वारा प्रमेयों के कमल पर मार्तण्ड का प्रखर प्रकाश तथा न्याय के कुमुदों पर चंद्र का सौम्य प्रकाश डाला ही गया था। अभयदेव के द्वारा तत्त्वबोधविधायिनी टीका या वादार्णव रचा जाकर तत्त्वसंग्रह तथा प्रमाणवार्तिकालंकार जैसे बड़े ग्रंथों के अभाव की पूर्ति की गई थी। वादिदेव ने रत्नाकर रचकर उसमें सभी पूर्ववर्ती जैनग्रंथरत्नों का पूर्णतया संग्रह कर दिया था। यह सब हेमचंद्र के सामने था। पर उन्हें मालूम हुआ कि उस न्याय-प्रमाण विषयक साहित्य में कुछ भाग तो ऐसा है जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अति महत्त्व का होते हुए भी एक एक विषय की ही चर्चा करता है या बहुत ही संक्षिप्त है। दूसरा भाग ऐसा है कि जो है तो सर्व विषय संग्राही पर वह उत्तरोत्तर इतना अधिक विस्तृत तथा शब्द क्लिष्ट है कि जो सर्वसाधारण के अभ्यास का विषय बन नहीं सकता। इस विचार से हेमचंद्र ने एक ऐसा प्रमाण विषयक ग्रंथ बनाना चाहा जो कि उनके समय तक चर्चित एक भी दार्शनिक विषय की चर्चा से खाली न रहे और फिर भी वह पाठ्यक्रम योग्य मध्यम कद का हो। इसी दृष्टि में से प्रमाणमीमांसा का जन्म हुआ। इसमें हेमचंद्र ने पूर्ववर्ती आगमिक–तार्किक सभी जैन मंतव्यों को विचार व मनन से पचाकर अपने ढंग की विशद व अपुनरुक्त सूत्रशैली तथा सर्वसंग्राहिणी विशदतम स्वोपज्ञवृत्ति में सन्निविष्ट किया। यद्यपि पूर्ववर्ती अनेक जैन ग्रंथों का सुसम्बद्ध दोहन इस मीमांसा में है जो हिन्दी टिप्पणियों में की गई तुलना से स्पष्ट हो जाता है फिर भी उसी अधूरी तुलना के आधार से यहाँ यह भी कह देना समुचित है कि प्रस्तुत ग्रंथ के निर्माण में हेमचंद्र ने प्रधानतया किन किन ग्रंथों या ग्रन्थकारों का आश्रय लिया है। निर्युक्ति, विशेषावश्यक भाष्य तथा तत्त्वार्थ जैसे आगमिक ग्रन्थ तथा सिद्धसेन, समंतभद्र, अकलङ्क, माणिक्यनंदी और विद्यानंद की प्राय; समस्त कृतियाँ इसकी उपादन सामग्री बनी हैं। प्रभाचंद्र के मार्तण्ड का भी इसमें पूरा असर है। अगर अनंतवीर्य सचमुच हेमचंद्र के पूर्ववर्ती या समकालीन वृद्ध रहे होंगे तो यह भी सुनिश्चित है कि इस ग्रन्थ की रचना में उनकी छोटी सी प्रमेयरत्नमाला का विशेष उपयोग हुआ है। वादिदेवसूरि की कृति का भी उपयोग इसमें स्पष्ट है फिर भी जैन तार्किकों में से अकलंक और माणिक्यनंदी का ही मार्गानुगमन प्रधानतया देखा जाता है। उपयुक्त जैन ग्रंथों में आए हुए ब्राह्मण बौद्ध ग्रंथों का भी उपयोग हो जाना स्वाभाविक ही था। फिर भी प्रमाण मीमांसा के सूक्ष्म अवलोकन तथा तुलनात्मक अभ्यास से यह भी पता चल जाता है कि हेमचंद्र ने बौद्ध ब्राह्मण परंपरा के किन किन विद्वानों की कृतियों का अध्ययन व परिशीलन विशेषरूप से किया था जो प्रमाण मीमांसा में उपयुक्त हुआ हो। दिङ्नाग, खासकर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट और शांतरक्षित ये बौद्ध तार्किक इनके अध्ययन के विषय अवश्य रहे हैं। कणाद, भासर्वज्ञ, व्योमशिव, श्रीधर, अक्षपाद, वात्स्यायन, उद्द्योतकर, जयंत, वाचस्पति मिश्र, शबर, प्रभाकर, कुमारिल आदि जुदी २ वैदिक परंपराओं के प्रसिद्ध विद्वानों की सब कृतियाँ प्रायः इनके अध्ययन की विषय रही। चार्वाक एकदेशीय जयराशि भट्ट का तत्त्वोपप्लव भी इनकी दृष्टि के बाहर नहीं था। यह सब होते हुए भी हेमचन्द्र की भाषा तथा निरूपण शैली पर धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, अर्चट, भासर्वज्ञ, वात्स्यायन, जयंत, वाचस्पति, कुमारिल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि का ही आकर्षक प्रभाव पड़ा हुआ जान पड़ता है। अतएव यह अधूरे रूप में उपलब्ध प्रमाणमीमांसा भी ऐतिहासिक दृष्टि से जैन तर्क साहित्य में तथा भारतीय दर्शन साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखती है।

भारतीय प्रमाणशास्त्र में 'प्रमाण मीमांसा' का स्थान—

भारतीय प्रमाणशास्त्र में प्रमाण मीमांसा का तत्त्वज्ञान की दृष्टि से क्या स्थान है इसे ठीक २ समझने के लिए मुख्यतया दो प्रश्नों पर विचार करना ही होगा। जैन तार्किकों की भारतीय प्रमाणशास्त्र को क्या देन है जो प्रमाण मीमांसा में सन्निविष्ट हुई हो और जिसको कि बिना जाने किसी तरह भारतीय प्रमाण-शास्त्र का पूरा अध्ययन हो ही नहीं सकता। पूर्वाचार्यों की उस देन में हेमचन्द्र ने अपनी ओर से भी कुछ विशेष अर्पण किया है या नहीं और किया है तो किन मुद्दों पर ?

(१) जैनाचार्यों की भारतीय प्रमाणशास्त्र को देन

१—अनेकांतवाद—

सबसे पहली और सबसे श्रेष्ट सब देनों की चाबी रूप जैनाचार्यों की मुख्य देन है अनेकांत तथा नयवाद का शास्त्रीय निरूपण।[1]

तत्त्व-चिंतन में अनेकांतदृष्टि का व्यापक उपयोग करके जैन तार्किकों ने अपने आगमिक प्रमेयों तथा सर्वसाधारण न्याय के प्रमेयों में से जो-जो मंतव्य तार्किक दृष्टि से स्थिर किये और प्रमाण शास्त्र में जिनका निरूपण किया उनमें से थोड़े ऐसे मंतव्यों का भी निर्देश उदाहरण के तौर पर यहाँ कर देना जरूरी है जो एक मात्र जैन तार्किकों की विशेषता दरसाने वाले हैं—प्रमाण विभाग, प्रत्यक्ष का तत्त्विकत्व, इन्द्रियज्ञान का व्यापारक्रम, परोक्ष के प्रकार, हेतु का रूप, अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था, कथा का स्वरूप, निग्रहस्थान या जयपराजय व्यवस्था, प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप, सर्वज्ञत्व-समर्थन आदि।

२—प्रमाण विभाग

जैन परंपरा का प्रमाणविषयक मुख्य विभाग[2] दो दृष्टियों से अन्य परंपराओं

---

१ 'अनेकांतवाद' का इस प्रसंग में जो विस्तृत ऊहापोह किया गया है उसे अन्यत्र मुद्रित किया गया है। देखो पृ० १६१–१७३। अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति नहीं की गई—संपादक।

२—प्रमाण मीमांसा १–१–१० तथा टिप्पण पृ० १६ पं० २६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की अपेक्षा विशेष महत्त्व रखता है। एक तो यह कि ऐसे सर्वानुभवसिद्ध वैलक्षण्य पर मुख्य विभाग अवलंबित है जिससे एक विभाग में आनेवाले प्रमाण दूसरे विभाग से असंकीर्ण रूप में अलग हो जाते हैं—जैसा कि इतर परंपराओं के प्रमाण विभाग में नहीं हो पाता। दूसरी दृष्टि यह है कि चाहे किसी दर्शन की न्यून या अधिक प्रमाण संख्या क्यों न हो पर वह सब बिना खींचतान के इस विभाग में समा जाती है। कोई भी ज्ञान या तो सीधे तौर से साक्षात्कारात्मक, होता है या असाक्षात्कारात्मक, यही प्राकृत-पंडितजन साधारण अनुभव है। इसी अनुभव को सामने रखकर जैन चिन्तकों ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो मुख्य विभाग किये जो एक दूसरे से बिलकुल विलक्षण हैं। दूसरी इसकी यह खूबी है कि इसमें न तो चार्वाक की तरह परोक्षानुभव का अपलाप है, न बौद्धदर्शन संमत प्रत्यक्ष-अनुमान द्वैविध्य की तरह आगम आदि इतर प्रमाण व्यापारों का अपलाप है या खींचातानी से अनुमान में समावेश करना पड़ता है और न त्रिविध प्रमाणवादी सांख्य तथा प्राचीन वैशेषिक, चतुर्विध प्रमाणवादी नैयायिक, पंचविध प्रमाणवादी प्रभाकर, षड्विध प्रमाणवादी मीमांसक, सप्तविध या अष्टविध प्रमाणवादी पौराणिक आदि की तरह अपनी २ अभिमत प्रमाणसंख्या को स्थिर बनाए रखने के लिए इतर संख्या का अपलाप या उसे तोड़-मरोड़ करके अपने में समावेश करना पड़ता है। चाहे जितने प्रमाण मान लो पर वे सीधे तौर पर या तो प्रत्यक्ष होंगे या परोक्ष। इसी सादी किन्तु उपयोगी समझ पर जैनों का मुख्य प्रमाण विभाग कायम हुआ जान पड़ता है।

३—प्रत्यक्ष का तात्त्विकत्व

प्रत्येक चिन्तक इन्द्रियजन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानता है। जैन दृष्टि का कहना है कि दूसरे किसी भी ज्ञान से प्रत्यक्ष का ही स्थान ऊँचा व प्राथमिक है। इन्द्रियां जो परिमित प्रदेश में अतिस्थूल वस्तुओं से आगे जा नहीं सकतीं, उनसे पैदा होनेवाले ज्ञान को परोक्ष से ऊँचा स्थान देना इन्द्रियों का अति मूल्य आंकने के बराबर है। इन्द्रियां कितनी ही पटु क्यों न हों, पर वे अन्ततः हैं तो परतन्त्र ही। अतएव परतन्त्रजनित ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्ष मानने की अपेक्षा स्वतन्त्रजनित ज्ञान को ही प्रत्यक्ष मानना न्यायसंगत है। इसी विचार से जैन चिन्तकों ने उसी ज्ञान को वस्तुतः प्रत्यक्ष माना है जो स्वतन्त्र आत्मा के आश्रित है। यह जैन विचार तत्त्वचिंतन में मौलिक है। ऐसा होते हुए भी लोकसिद्ध प्रत्यक्ष को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहकर उन्होंने अनेकान्त दृष्टि का उपयोग कर दिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४—इन्द्रिय ज्ञान का व्यापारक्रम

सर्व दर्शनों में एक या दूसरे रूप में थोड़े या बहुत परिमाण में ज्ञान व्यापार का क्रम देखा जाता है। इसमें ऐन्द्रियक ज्ञान के व्यापार क्रम का भी स्थान है। परन्तु जैन परंपरा में सन्निपातरूप प्राथमिक इन्द्रिय व्यापार से लेकर अन्तिम इन्द्रिय व्यापार तक का जिस विश्लेषण और जिस स्पष्टता के साथ अनुभव सिद्ध अतिविस्तृत वर्णन है वैसा दूसरे दर्शनों में नहीं देखा जाता। यह जैन वर्णन है तो अति पुराना और विज्ञान युग के पहिले का, फिर भी आधुनिक मानस शास्त्र तथा इन्द्रिय-व्यापारशास्त्र के वैज्ञानिक अभ्यासियों के वास्ते यह बहुत महत्त्व का है।

५—परोक्ष के प्रकार

केवल स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और आगम के ही प्रामाण्य-अप्रामाण्य मानने में मतभेदों का जंगल न था; बल्कि अनुमान तक के प्रामाण्य-अप्रामाण्य में विप्रतिपत्ति रही। जैन तार्किकों ने देखा कि प्रत्येक पक्षकार अपने पक्ष को आत्यन्तिक खींचने में दूसरे पक्षकार का सत्य देख नहीं पाता। इस विचार में से उन्होंने उन सब प्रकार के ज्ञानों को प्रमाण कोटि में दाखिल किया जिनके बल पर वास्तविक व्यवहार चलता है और जिनमें से किसी एक का अपलाप करने पर तुल्य युक्ति से दूसरे का अपलाप करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे सभी प्रमाण प्रकारों को उन्होंने परोक्ष में डालकर अपनी समन्वय दृष्टि का परिचय कराया[1]।

६—हेतु का रूप

हेतु के स्वरूप के विषय में मतभेदों के अनेक अखाड़े कायम हो गए थे। इस युग में जैन तार्किकों ने यह सोचा कि क्या हेतु का एक ही रूप ऐसा मिल सकता है या नहीं जिस पर सब मतभेदों का समन्वय भी हो सके और जो वास्तविक भी हो। इस चिन्तन में से उन्होंने हेतु का एक मात्र अन्यथानुपपत्ति रूप निश्चित किया जो उसका निर्दोष लक्षण भी हो सके और सब मतों के समन्वय के साथ जो सर्वमान्य भी हो। जहाँ तक देखा गया है हेतु के ऐसे एक मात्र तात्त्विक रूप के निश्चित करने का तथा उसके द्वारा तीन, चार, पाँच और छः, पूर्व प्रसिद्ध हेतु रूपों के यथासंभव स्वीकार का श्रेय जैन तार्किकों को ही है।

---

१ प्रमाण मीमांसा १-२-२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७—अवयवों की प्रायोगिक व्यवस्था—

परार्थानुमान के अवयवों की संख्या के विषय में भी प्रतिद्वन्द्वीभाव प्रमाण क्षेत्र में कायम हो गया था। जैन तार्किकों ने उस विषय के पक्षभेद की यथार्थता-अयथार्थता का निर्णय श्रोता की योग्यता के आधार पर ही किया, जो वस्तुतः सच्ची कसौटी हो सकती है। इस कसौटी में से उन्हें अवयव प्रयोगकी व्यवस्था ठीक २ सूझ आई जो वस्तुतः अनेकान्त दृष्टिमूलक होकर सर्व संग्राहिणी है और वैसी स्पष्ट अन्य परम्पराओं में शायद ही देखी जाती है।

८—कथा का स्वरूप

आध्यात्मिकता मिश्रित तत्त्वचिंतन में भी साम्प्रदायिक बुद्धि दाखिल होते ही उसमें से आध्यात्मिकता के साथ असंगत ऐसी चर्चाएँ जोरों से चलने लगीं, जिनके फलस्वरूप जल्प और वितंडा कथा का चलाना भी प्रतिष्ठित समझा जाने लगा जो छल, जाति आदि के असत्य दाव-पेचों पर निर्भर था। जैन तार्किक साम्प्रदायिकता से मुक्त तो न थे, फिर भी उनकी परंपरागत अहिंसा व वीतरागत्व की प्रकृति ने उन्हें वह असंगति सुझाई जिससे प्रेरित होकर उन्होंने अपने तर्कशास्त्र में कथा का एक वादात्मक रूप ही स्थिर किया; जिसमें छल आदि किसी भी चालबाजी का प्रयोग वर्ज्य है और जो एक मात्र तत्त्व जिज्ञासा की दृष्टि से चलाई जाती है। अहिंसा की आत्यन्तिक समर्थक जैन परंपरा की तरह बौद्ध परंपरा भी रही, फिर भी छल आदि के प्रयोगों में हिंसा देखकर निंद्य ठहराने का तथा एक मात्र वाद कथा को ही प्रतिष्ठित बनाने का मार्ग जैन तार्किकों ने प्रशस्त किया, जिसकी ओर तत्त्व-चिन्तकों का लक्ष्य जाना जरूरी है।

९—निग्रहस्थान या जयपराजय व्यवस्था

वैदिक और बौद्ध परंपरा के संघर्ष ने निग्रह स्थान के स्वरूप के विषय में विकाससूचक बड़ी ही भारी प्रगति सिद्ध की थी। फिर भी उस क्षेत्र में जैन तार्किकों ने प्रवेश करते ही एक ऐसी नई बात सुझाई जो न्यायविकास के समग्र इतिहास में बड़े मार्के की और अब तक सबसे अन्तिम है। वह बात है जय-पराजय व्यवस्था का नया निर्माण करने की। वह नया निर्माण सत्य और अहिंसा दोनों तत्त्वों पर प्रतिष्ठित हुआ जो पहले की जय-पराजय व्यवस्था में न थे।

१०—प्रमेय और प्रमाता का स्वरूप

प्रमेय जड़ हो या चेतन, पर सब का स्वरूप जैन तार्किकों ने अनेकान्त दृष्टि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उपयोग करके ही स्थापित किया और सर्वव्यापक रूप से कह दिया कि वस्तु मात्र परिणामी नित्य है। नित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव सिद्ध अनित्यता का इनकार करने की अशक्यता देखकर कुछ तत्त्व-चिंतक गुण, धर्म आदि में अनित्यता घटाकर उसका जो मेल नित्य द्रव्य के साथ खींचातानी से बिठा रहे थे और कुछ तत्त्व-चिंतक अनित्यता के ऐकान्तिक आग्रह की धुन में अनुभव सिद्ध नित्यता को भी जो कल्पना मात्र बतला रहे थे उन दोनों में जैन तार्किकों ने स्पष्टतया अनुभव की आंशिक असंगति देखी और पूरे विश्वास के साथ बलपूर्वक प्रतिपादन कर दिया कि जब अनुभव न केवल नित्यता का है और न केवल अनित्यता का, तब किसी एक अंश को मानकर दूसरे अंश का बलात् मेल बैठाने की अपेक्षा दोनों अंशों को तुल्य सत्यरूप में स्वीकार करना ही न्यायसंगत है। इस प्रतिपादन में दिखाई देनेवाले विरोध का परिहार उन्होंने द्रव्य और पर्याय या सामान्य और विशेष ग्राहिणी दो दृष्टियों के स्पष्ट पृथक्करण से कर दिया। द्रव्य पर्याय की व्यापक दृष्टि का यह विकास जैन परम्परा की ही देन है।

जीवात्मा, परमात्मा और ईश्वर के संबन्ध में सद्गुण-विकास या आचरण-साफल्य की दृष्टि से असंगत ऐसी अनेक कल्पनाएँ तत्त्व-चिंतन के प्रदेश में प्रचलित थीं। एक मात्र परमात्मा ही है या उससे भिन्न अनेक जीवात्मा चेतन भी हैं, पर तत्त्वतः वे सभी कूटस्थ निर्विकार और निर्लेप ही हैं। जो कुछ दोष या बंधन है वह या तो निरा भ्रांति मात्र है या जड़ प्रकृति गत है। इस मतलब का तत्त्व-चिंतन एक ओर था दूसरी ओर ऐसा भी चिंतन था जो कहता कि चैतन्य तो है, उसमें दोष, वासना आदि का लगाव तथा उससे अलग होने की योग्यता भी है पर उस चैतन्य की प्रवाहबद्ध धारा में कोई स्थिर तत्त्व नहीं है। इन दोनों प्रकार के तत्त्वचिंतनों में सद्गुण-विकास और सदाचार साफल्य की संगति सरलता से नहीं बैठ पाती। वैयक्तिक या सामूहिक जीवन में सद्गुण विकास और सदाचार के निर्माण के सिवाय और किसी प्रकार से सामंजस्य जम नहीं सकता। यह सोचकर जैन चिंतकों ने आत्मा का स्वरूप ऐसा माना जिसमें एक ही परमात्म-शक्ति भी रहे और जिसमें दोष, वासना आदि के निवारण द्वारा जीवन-शुद्धि की वास्तविक जवाबदेही भी रहे। आत्म-विषयक जैन-चिंतन में वास्तविक परमात्म शक्ति या ईश्वर-भाव का तुल्य रूप से स्थान है, अनुभवसिद्ध आगन्तुक दोषों के निवारणार्थ तथा सहज बुद्धि के आविर्भावार्थ प्रयत्न का पूरा अवकाश है। इसी व्यवहार-सिद्ध बुद्धि में से जीवभेदवाद तथा देहप्रमाणवाद स्थापित हुए जो सम्मिलित रूप से एकमात्र जैन परंपरा में ही हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११—सर्वज्ञत्व समर्थन

प्रमाण शास्त्र में जैन सर्वज्ञवाद दो दृष्टियों से अपना खास स्थान रखता है। एक तो यह कि वह जीव-सर्वज्ञवाद है जिसमें हर कोई अधिकारी की सर्वज्ञत्व पाने की शक्ति मानी गई है और दूसरी दृष्टि यह है कि जैनपक्ष निरपवाद रूप से सर्वज्ञवादी हो रहा है जैसा कि न बौद्ध परंपरा में हुआ है और न वैदिक परंपरा में। इस कारण से काल्पनिक, अकाल्पनिक, मिश्रित यावत् सर्वज्ञत्वसमर्थक युक्तियों का संग्रह अकेले जैन प्रमाणशास्त्र में ही मिल जाता है। जो सर्वज्ञत्व के संबन्ध में हुए भूतकालीन बौद्धिक व्यायाम के ऐतिहासिक अभ्यासियों के तथा सांप्रदायिक भावनावालों के काम की चीज है।

२. भारतीय प्रमाण शास्त्र में हेमचन्द्र का अर्पण

परंपराप्राप्त उपर्युक्त तथा दूसरे अनेक छोटे-बड़े तत्त्वज्ञान के मुद्दों पर हेमचन्द्र ने ऐसा कोई विशिष्ट चिंतन किया है या नहीं और किया है तो किस २ मुद्दे पर किस प्रकार है जो जैन तर्कशास्त्र के अलावा भारतीय प्रमाणशास्त्र मात्र को उनकी देन कही जा सके। इसका जवाब हम 'प्रमाणमीमांसा' के हिंदी टिप्पणों में उस २ स्थान पर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक दृष्टि द्वारा विस्तार से दे चुके हैं। जिसे दुहराने की कोई जरूरत नहीं। विशेष जिज्ञासु उस उस मुद्दे के टिप्पणों को देख लें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org